



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2019; 5(4): 261-263

© 2019 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 04-05-2019

Accepted: 06-06-2019

डॉ. नन्दकिशोर ठाकुर

मध्य विद्यालय प्रखण्ड कॉलोनी,
नाथनगर, भागलपुर बिहार, भारत

कर्मयोग ही गीता का प्राणतत्त्व

डॉ. नन्दकिशोर ठाकुर

प्रस्तावना

“गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्भिनिः सृता।।”⁰¹

नारायण के मुखारविन्द से निःसृत सर्वशास्त्रमयी गीता भारतीय दर्शन का अद्वितीय ग्रन्थ है। यह भारत का ही नहीं अपितु विश्वमनीषा का महनीय मान बिन्दु है। अतएव न केवल भारतीय अपितु विश्व की प्रायः सभी भाषाओं में गीता के अनुवाद हुए हैं तथा इसके गूढ़ अभिप्रायों पर मन्थन होता आया है। अनेक प्रतिष्ठित आचार्यों ने गीता पर भाष्य लिखे हैं तथा उन भाष्यों पर विभिन्न टीकाओं, प्रटीकाओं की रचना हुई है। सर्वमङ्गलमयी गीता एक ऐसा दर्पण है, जिसमें सभी दार्शनिक एवं सम्प्रदायविद् अपने सिद्धान्तों के दर्शन करते हैं। गीता के महत्त्व को देखते हुए इसकी गणना प्रस्थानत्रयी में की गई है। किसी भी मत या सम्प्रदाय की दार्शनिक मान्यता इसके वैदुष्यपूर्ण व्याख्या से ही सम्पोषित होती रही है।

कर्म शब्द संस्कृत के ‘कृ’ धातु से बना है जिसका अर्थ ‘करना’ होता है। इस तरह कर्मयोग से अर्थ उस योग से किया जाता है जिसमें कर्म करते हुए ईश्वर-प्राप्ति के प्रयास किये जाते हैं। कर्म में लीन होना ही कर्मयोग है। मनुष्य अपने जीवन के प्रत्येक पल में कोई न कोई कर्म सदैव करते रहते हैं। ये कर्म किसी न किसी रूप में जाने अनजाने होते ही रहते हैं। ये कर्म कायिक, वाचिक या मानसिक होते हैं। गीता में कहा गया है— “योगः कर्मसु कौशलम्” कर्म-सिद्धान्त का यह सामान्य नियम है, हम जैसा कर्म करते हैं वैसा ही फल पाते हैं। साधकसंजीवनीकार के अनुसार कर्म में कुशलता को योग की संज्ञा से आख्यायित करने वाले विद्वान् भ्रान्त हैं तथा इससे संसार में विकर्म को प्रोत्साहन मिलेगा। उन्होंने कर्मों में योग को ही कौशल शब्द से व्यपदिष्ट किया है— “कर्मसु योगः एव कौशलम्।” गीता में निष्काम कर्म की प्रधानता है, जहाँ स्वार्थ और फल की चिन्ता नहीं होती है। कर्म-फल की इच्छा न रखकर कर्म करना ही निष्काम कर्म है। मनुष्य को हमेशा आसक्ति छोड़कर कर्म करना चाहिए। अतः गीता में भगवान् श्रीकृष्ण निष्काम कर्मयोग के सम्बन्ध में कहते हैं—

“कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।।”²

उपर्युक्त श्लोक में शांकरभाष्यानुसार कहा गया है कि योगी लोग यानी ‘मैं’ सब कर्म ईश्वर के लिए ही करता हूँ, अपने फल के लिए नहीं। इस भाव से जिनमें ममत्वबुद्धि नहीं रहती है ऐसे शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से फल विषयक आसक्ति को छोड़कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं। सभी क्रियाओं में ममता का निषेध करने के लिए ‘केवल’ शब्द का काया आदि सभी शब्दों के साथ सम्बन्ध है।

“कर्मयोग ही गीता का प्राणतत्त्व” शीर्षकीय प्रस्तुत शोधपत्र में गीतोक्त कर्मयोग की महत्ता को ससन्दर्भ विवेचित एवं विश्लेषित किया जा रहा है। गीता के 18 अध्यायों में 18 योगों का विवेचन है तथापि उनमें कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग की प्रधानता है, जिसमें कर्मयोग को ही गीता का प्राणतत्त्व बतलाया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं गीता के द्वितीय अध्याय में अर्जुन को कर्म करने की प्रेरणा देते हैं—

Correspondence

डॉ. नन्दकिशोर ठाकुर

मध्य विद्यालय प्रखण्ड कॉलोनी,
नाथनगर, भागलपुर बिहार, भारत

“कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।”⁰³

उपर्युक्त श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा है कि कर्म करना ही तुम्हारा अधिकार है न कि फलाधिकार। शांकरभाष्यानुसार कहा गया है कि तेरा कर्म में ही अधिकार है, फलों में नहीं। तुझे किसी भी अवस्था में कर्मफल की इच्छा नहीं होनी चाहिए। यदि कर्मफल में तेरी तृष्णा होगी तो तुम कर्मफल प्राप्ति का कारण होगा। अतः इस प्रकार कर्मफल प्राप्ति का कारण मत बनो, क्योंकि जब मनुष्य कर्मफल की कामना से प्रेरित होकर कर्म में प्रवृत्त होता है तब वह कर्मफलरूप पुनर्जन्म का कारण बन ही जाता है। इस प्रकार कर्म न करने में भी तेरी आसक्ति और प्रीति नहीं होनी चाहिए।

गीता की रचना से पूर्व वेदों तथा ब्राह्मणों में यज्ञों के अनुष्ठान के रूप में कर्म का अत्यधिक महत्त्व था, भले ही यह कर्म यज्ञशाला तक सीमित रहा हो। लौकिक तथा पारलौकिक सुखों की प्राप्ति के लिए अनेक यज्ञ समय-समय पर किये जाते थे। तत्पश्चात् उपनिषदों में वेदोक्त यज्ञनिष्ठ कर्म की अपेक्षा ज्ञान का महत्त्व बढ़ा। लौकिक तथा भौतिक सुख की अपेक्षा शाश्वत सुख की जिज्ञासा तीव्र हुई। परब्रह्म की अनुभूति में परमानन्द की सिद्धि हुई। सांसारिक या पारलौकिक सुखभोग की अपेक्षा ब्रह्मज्ञान मानव का परम लक्ष्य बना। पुराणसाहित्य में कर्म एवं ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का महत्त्व बढ़ा। परमपुरुषार्थ की प्राप्ति में ज्ञान के समान भक्ति की भी उपयोगिता मानी गई। फलस्वरूप भक्ति के समर्थन में अनेक सम्प्रदाय एवं दर्शन प्रचलित हुए। अतएव कर्म-ज्ञान-भक्ति यह उत्तरोत्तर क्रम है। गीता में भी यही क्रम देखने को प्राप्त होता है।

वस्तुतः गीता का प्रारम्भ कर्मयोग से ही होता है। भक्तियोग पर पहुँचने से पूर्व भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन को कर्मयोग में दीक्षित करते हैं। महाभारत युद्ध के प्रारम्भ होने से पूर्व कुरुक्षेत्र में अपने सगे-सम्बन्धियों को देखकर अर्जुन युद्ध से विमुख हो जाते हैं। उसके अंग शिथिल हो जाते हैं, मुख सूखने लगता है, शरीर काँपने लगता है तथा मन भ्रमित होता है। यह दृश्य प्रस्तुत श्लोक में द्रष्टव्य है—

“दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।।
“सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।”
“न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।।”⁰⁴

गीता में भगवान् ने निष्काम कर्म पर ही बल दिया है। इसके परिणाम में सुख-दुःख की अनुभूति कराने वाली फलासक्ति नहीं होती है। कर्म करने में ही मानव का अधिकार है उसके फल में कभी नहीं। अतः कर्मफल को त्याग कर निष्काम भाव से किया गया कर्म मानव को पुण्य और पाप से नहीं बाँधता है। अतः मानव को निष्काम भाव से कर्म करना चाहिए, कर्म का त्याग कभी नहीं। इस सन्दर्भ में प्रस्तुत श्लोक निभालनीय है—

“कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।”⁰⁵

उपर्युक्त श्लोक में कहा गया है कि आसक्ति और कर्मफल की भावना का त्याग आवश्यक है, जिससे जीव जन्म-मरण रूप बन्धन से मुक्त होकर शान्तिमय परमपद को प्राप्त होता है। इसी तथ्य को भागवतपुराण ने भी पुष्ट किया है, जो स्तुत्य है—

“समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं यद्विपदां न तेषाम्।।”⁰⁶

श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मफल त्याग के साथ-साथ आसक्ति-त्याग का भी उपदेश दिया गया है। भगवान् के उपदेश में कहीं-कहीं फल के त्याग की बात कही गई है तो कहीं-कहीं केवल आसक्ति के त्याग की बात है और फिर कहीं फल तथा आसक्ति दोनों के त्याग को युक्तियुक्त माना गया है। जहाँ केवल फल के त्याग की बात है वहाँ आसक्ति के त्याग की भी बात एक साथ समझनी चाहिए और जहाँ केवल आसक्ति के त्याग की बात कही गई है वहाँ कर्मफल के त्याग की बात भी समझनी चाहिए। अतः कर्मयोग तभी सार्थक होता है जब फल और आसक्ति दोनों का ही त्याग होता है। इस विषय में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं ही अपने मुखारविन्द से सर्वथा सर्वमान्य तथ्य को कथ्य बनाया है—

“युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।।
“असक्तः ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः।।”
“एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।”⁰⁷

इस भौतिकवादी संसार में कर्म की विशेष प्रधानता है। बिना कर्म किये कोई भी सफलता को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। “अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्”⁰⁸ इस शास्त्रीय निष्कर्ष की सम्पुष्टि भी गीता के कर्मयोग सिद्धान्त से होती है। दुर्भाग्य से भाग्यवादी मनुष्य कर्म पर विश्वास नहीं करता है। वह तो सिर्फ भाग्य पर ही विश्वास करता है। वह हमेशा सोचता है कि जो भाग्य में लिखा रहता है वही प्राप्त होता है लेकिन यह मिथ्या चिन्तन है, क्योंकि कर्म करने से भाग्य बनता और बिगड़ता है। अतएव कर्म ही मनुष्य का आधार है। राजर्षि जनकादि ने भी कर्म के द्वारा ही सिद्धि को प्राप्त किया है, जिसकी पुष्टि गीता के द्वितीय अध्याय में की गई है—

“कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।।”⁰⁹

मनुष्य के अच्छे-बुरे दो कर्म होते हैं। अच्छे कर्म के अच्छे परिणाम और बुरे कर्म के बुरे परिणाम होते हैं। अतएव मनुष्य को हमेशा अच्छे कर्मों के प्रति प्रवृत्त होना चाहिए। श्रेष्ठ पुरुषों से हमेशा अच्छे कर्म की प्रेरणा लेनी चाहिए, जिससे कि जीवन धन्य हो सके। गीता के निम्नलिखित श्लोक में भगवान् ने श्रेष्ठपुरुषों को विशेष सावधान किया है, क्योंकि मानव अनुकरणीय प्राणी हैं। अतएव श्रेष्ठ पुरुष के कर्म श्रेष्ठ एवं अनुकरणीय होना चाहिए, जिससे सामाजिक सद्भाव एवं संतुलन बना रहे—

“यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।”¹⁰

उपर्युक्त श्लोक में शांकरभाष्यकार ने कहा है कि श्रेष्ठ पुरुष जो-जो कर्म करता है, दूसरे लोगों को उसके अनुयायी होकर उस-उस कर्म का ही अचरण करना चाहिए तथा वह श्रेष्ठ पुरुष जिस-जिस लौकिक या वैदिक प्रथा को प्रामाणिक मानता है, लोगों को इसी के अनुसार चलना चाहिए। पञ्चतंत्र ग्रन्थ ने भी इस सन्दर्भ की पुष्टि की है— “महाजनो येन गतः स पान्थः।।” मानसकार सन्तशिरोमणि तुलसीदास भी नानापुराणनिगमागमसम्मत श्रीरामचरितमानस में गीतोक्त कर्मयोग के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए निम्नलिखित निभालनीय उद्गार को इन शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं—

“करम प्रधान बिस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फलु चाखा।।”¹¹

गीतोपदेश की पृष्ठभूमि पर किञ्चित् विचार करने से कुरुक्षेत्र से पलायन के लिए प्रस्तुत पार्थ को कठोर युद्धकर्म में प्रवृत्त करने हेतु

श्रीकृष्ण प्रेरित करते हैं। अतएव कर्म सिद्धान्त ही गीता का प्रधानपीठ है—

“सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः।।”¹²

श्रीकृष्ण के इस अंतिम श्लोक से कर्मफल—सिद्धान्त का समन्वय इस प्रकार से किया जाय कि कठोर कर्म में प्रवृत्त होकर भी मनुष्य यदि संकल्प—विकल्प के परे शरणागत हो जाये तो परमात्मा अपने कर्मयोग से उसे सर्वदा सर्वथा समस्त पापों से मुक्त कर ही देते हैं। यह भगवान् का कर्मयोग है जिसे वे प्रतिभूतिपूर्वक ‘मोक्षयिष्यामि’ क्रियापद से रेखांकित करते हैं— “अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।”

कर्मयोग नामक तृतीय अध्याय में भगवान् कर्म की अनिवार्यता के रहस्य पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि कर्म किये बिना कोई भी प्राणी एक क्षण भी नहीं रह सकता। विवश होकर भी प्रकृतिजन्य गुणों से प्रेरित हुआ मानव सारे कर्मों को करता है—

“न हि कश्चित् क्षणमपि जातु निष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।”¹³

उपर्युक्त श्लोक में शांकरभाष्यानुसार कहा गया है कि कोई भी मनुष्य कभी क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रहता है, क्योंकि ‘सभी प्राणी’ प्रकृति से उत्पन्न सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों के द्वारा परवश होकर अवश्य ही कर्मों में प्रवृत्त हो जाते हैं। पुनश्च, सभी प्राणी अर्थात् अज्ञानियों के लिए ही कर्मयोग है, ज्ञानियों के लिए नहीं। क्योंकि जो गुणों द्वारा विचलित नहीं किये जा सकते, उन ज्ञानियों में स्वतः क्रिया का अभाव होने से उनके लिए ‘कर्मयोग’ सम्भव नहीं है।

उपनिषद् में भी कर्मयोग पर बल देते हुए कहा गया है कि मनुष्य को हमेशा कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करनी चाहिए। इस संदर्भ में प्रस्तुत मंत्र निभालनीय है—

“कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।।”¹⁴

यहाँ ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए कि कर्म करने पर कर्मलेप दुर्निवार्य हो जायेगा। इसी मन्त्र के उत्तरार्द्ध में इस आशंका को निर्मूल करते हुए स्पष्ट उद्घोष किया है—

“एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।”

अर्थात् कर्म की अनिवार्यता सार्वजनीन है किन्तु अनासक्त होकर किया गया कर्म कभी भी बन्धनकारी नहीं हो सकता। पुनः गीता के ही अतिप्रसिद्ध श्लोक इसी तथ्य को सुस्पष्ट करता है—

“यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमँल्लोकान् हन्ति न निबध्यते।।”¹⁵

अर्थात् निरहंकारी एवं निर्लिप्त बुद्धिवाला व्यक्ति समस्त लोकों को मारकर भी वस्तुतः निर्दुष्ट और निर्दण्ड ही रहता है। पुनश्च शांकरभाष्य में भी कहा गया है कि शास्त्र और आचार्यों के उपदेश से तथा न्याय से जिसका अन्तःकरण अच्छी तरह से शुद्ध एवं संस्कृत हो गया है, ऐसे जिस पुरुष के अन्तःकरण में “मैं कर्ता हूँ” इस प्रकार की भावना प्रतीत नहीं होती है, जो ऐसा समझता है कि ‘अविद्या से आत्मा में अध्यारोपित, ये अधिष्ठानादि पाँच हेतु ही समस्त कर्मों के कर्ता हैं, मैं नहीं हूँ। मैं तो केवल उनके व्यापारों का साक्षी मात्र प्राणों से रहित, मन से रहित, शुद्ध, श्रेष्ठ अक्षर से भी पर केवल और अक्रिय आत्मस्वरूप हूँ। ऐसा ज्ञानी इन समस्त लोगों अर्थात् सभी प्राणियों को मारकर भी वास्तव में नहीं मारता

है। अर्थात् हनन क्रिया नहीं करता और उसके परिणाम से अर्थात् पाप के फल से भी नहीं बँधता है।

अतः गीता में कर्म के बन्धन से मुक्त होने के लिए हमें योग युक्त होकर कर्म करना चाहिए। वस्तुतः योगी ही निष्काम एवं अनासक्त हो सकता है क्योंकि इच्छा—त्याग करके कर्म करने वाला साधारण व्यक्ति नहीं होता है। गीता के अनुसार जो कर्म निष्काम भाव से ईश्वर के लिए किये जाते हैं वे बन्धन उत्पन्न नहीं करते हैं। वे मोक्ष रूप परमपद की प्राप्ति में सहायक होते हैं। कर्म फल तथा आसक्ति से रहित होकर ईश्वर के लिए कर्म करना वास्तविक रूप से ‘कर्मयोग’ है और इसका अनुशरण करने से मनुष्य को अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। इस प्रकार आत्मज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति ही गीता के अनुसार वास्तविक रूप से ‘कर्मयोगी’ हो सकता है। उपक्रमोपसंहार की दृष्टि से भी कर्मयोग ही आपाततः गीता का प्राणतत्त्व सिद्ध होता है।

संदर्भ

1. महाभारत भीष्मपर्व — 01/43
2. श्रीमद्भगवद्गीता — 05/11
3. श्रीमद्भगवद्गीता — 02/47
4. श्रीमद्भगवद्गीता — 01/28-30
5. श्रीमद्भगवद्गीता — 02/51
6. श्रीमद्भागवत पुराण — 10/14/58
7. श्रीमद्भगवद्गीता — 05/12, 03/19, 18/06
8. श्रीमद्देवी भागवत महापुराण — 06/09/67
9. श्रीमद्भगवद्गीता — 03/20
10. श्रीमद्भगवद्गीता — 03/21
11. श्रीरामचरित मानस — अयोध्याकाण्ड, दोहा 218 के बाद चौथी चौपाई
12. श्रीमद्भगवद्गीता — 18/66
13. श्रीमद्भगवद्गीता — 03/05
14. ईशावास्योपनिषद् — मंत्र संख्या— 02
15. श्रीमद्भगवद्गीता — 18/17